कबीर और मरण-तत्व

"जीवन मृतक को अंग" में कबीर ने कहा है कि यदि कोई मरना जानता हो तो जीवन से मरण श्रेष्ठ है। जो मृत्यु से पहले मर जाते हैं, वे कलियुग में अजर-अमर हो जाते हैं।

जीवन थें मरिबों भलो, जो मरि जानें कोइ।
मरने पहले जे मरें तो कलि अजरावर होइ ॥ ८ ॥

इसी प्रकार विरोधाभास का आश्रय लेते हुए उन्होंने मुर्दे द्वारा काल के खाये जाने की बात कही है:—

एक अचंभा देखिया, मड़ा काल कों खाइ ॥४॥

निश्चय ही कबीर का तात्पर्य यहां जीवनमुक्त से है जिसे अपने जीवन-काल में ही मुक्ति प्राप्त हो जाती है।

कबीर ने गुरु द्वारा "सबद-बाण" चलाये जाने के प्रसंग में भी शिष्य के धराशायी होने और उसके कलेजे में छिद्र हो जाने की बात कही है :—

सतगुर साचा सूरिवां, सबद जु बाह्या एक।
लागत ही भे मिलि गया, पड्या कलेजे छेक ॥४॥
(सबद को अंग)

आगे चल कर "सूरातन को अंग" में यह निर्गुण संत उस मरण की अभिलाषा करता है जिसके द्वारा वह "पूरन परमानन्द" के दर्शन कर सकेगा—

जिस मरनें थें जग डरै, सो मेरे आनन्द।
कब मरिहूं कब देखिहूं, पूरन परमानन्द ॥१३॥

कबीर की दृष्टि में प्रेम के घर में प्रवेश तभी हो सकता है जब साधक अपना सिर उतार कर हाथ में ले लेता है अथवा उसे पैरों के नीचे रख देता है :—

कबीर यहु घर प्रेम का, खाला का घर नांहि ।
सीस उतारै हाथि करि, सो पैसे घर मांहि ।।१९।।

कबीर निज घर प्रेम का, मारग अगम अगाध ।
सीस उतारि पग तलि धरै, तब निकटि प्रेम का स्वाद ।।२०।।

इसी प्रकार निम्नलिखित साखियों में भी प्रकारान्तर से शीश उतार कर देने की बात कही गई है—

सीस काटि पासंग दिया, जीव सरभरि लीन्ह ।
जाहि भावे सो आइ ल्यौ, प्रेम आट हम कीन्ह ।।२२।।

सूरे सीस उतारिया, छाड़ी तन की आस ।
आगें थें हरि मुलकिया, आवत देख्या दास ।।२३।।

कबीर की मान्यता है कि प्रेम न तो किसी खेत में उत्पन्न होता है और न किसी बाजार में बिकता है । राजा-प्रजा कोई हो, इसे तो शीशदान द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है :—

प्रेम न खेतों नींपजै, प्रेम न हाटि बिकाइ ।
राजा परजा जिस रुचे, सिर दे सो ले जाई ।।२१।।

जायसी ने भी अपने "पद्मावत" में सिर काट कर रख देने की बात कही है :—

साधन सिद्धी न पाइअ, जौ लहि साध न तप्प ।
सोई जानहिं बापुरे जो सिर करहिं कलप्प ।।
(प्रेम खण्ड)

पेम पहार कठिन विधि गढ़ा । सो पै चढ़ै सीस सों चढ़ा ।

जहां तक मेरी जानकारी है, संस्कृत-साहित्य में ऐसा कोई प्रसंग उपलब्ध नहीं होता जहां मरण को इस प्रकार काम्य और स्पृहणीय माना गया हो । श्री दिनकर के शब्दों में "मृत्यु को काम्य मानने का भाव भारतीय साहित्य में कबीर के पहले नहीं मिलता है । वह देश निवृत्तिवादी था । यहां के दर्शनाचार्य लोक को असत्य और परलोक को सत्य बताते थे । लेकिन, इस दर्शन का सहारा लेकर कबीर से पहले के किसी भी भारतीय कवि ने यह नहीं कहा था कि चूंकि परलोक सत्य और लोक असत्य है, इसलिए साधक को चाहिए कि वह, शीघ्र से शीघ्र, मृत्यु को प्राप्त हो जाय ।"

बहुत सम्भव है, जैसा श्री दिनकर कहते हैं, मृत्यु भय की वस्तु नहीं, वह स्पृहणीय है, काम्य है, इस भाव का प्रचलन भारतीय साहित्य में सूफी परम्परा के प्रभाव से बढ़ा है । सूफियों का दर्शन यह था कि जीव ब्रह्म से बिछुड़ कर जीव हुआ है । जब से जीव ब्रह्म से अलग हुआ, तभी से वह वियोग में है । इस वियोग की समाप्ति तब होगी, जब जीव शरीर से निकल कर स्वतन्त्र हो जायगा । जीव की स्थिति

विरह की स्थिति है, यह दार्शनिक सिद्धान्त था। जब इस विरह की वेदनाओं का वर्णन कल्पना की भाषा में किया जाने लगा, साधक इस विरह की समाप्ति के लिए बेचैन हो उठे और उसके अनेक मार्गों में से एक मार्ग उन्हें मृत्यु में भी दिखाई देने लगा। ×

आगे चलकर मध्ययुगीन राजस्थानी साहित्य में अवश्य ही मरण का महोत्सव के रूप में चित्रण किया गया जिससे "मरण–त्यौहार" राजस्थानी का एक कहावती पदांश ही बन गया। जो मध्ययुगीन योद्धा देश तथा धर्म की रक्षा के लिए युद्ध-भूमि में अपने प्राणों को न्योछावर कर देते थे, उनका विश्वास था कि इसके परिणाम-स्वरूप वे अप्सराओं के साथ स्वर्ग-सुख का उपभोग करेंगे। महाभारत में भी इस प्रकार के योद्धा को "सूर्य मंडल भेदी" की संज्ञा दी गई है :—

द्वाविमौ पुरुषो लोके सूर्यमण्डल भेदिनो ।
परिव्राड योगयुक्तश्च रणे यश्चामुखे हतः ।।

प्रसाद के "चन्द्रगुप्त" नाटक की अलका के निम्नलिखित उद्बोधन में भी उक्त विश्वास की ही अभिव्यक्ति हुई है :—

"भाई ! तक्षशिला मेरी नहीं और तुम्हारी भी नहीं ; तक्षशिला आर्यावर्त्त का एक भू-भाग है ; वह आर्यावर्त्त की होकर ही रहे, इसके लिए मर मिटो। फिर उसके कणों में तुम्हारा ही नाम अंकित होगा। मेरे पिता स्वर्ग में इन्द्र से प्रतिस्पर्धा करेंगे। वहां की अप्सराएं विजयमाला लेकर खड़ी होंगी, सूर्यमण्डल मार्ग बनेगा और उज्ज्वल आलोक से मण्डित होकर गांधार का राजकुल अमर हो जायगा।"

गीता में भी इस प्रकार के युद्ध को "स्वर्गद्वारमपावृतम्"–खुला हुआ स्वर्गद्वार कहा गया है। किन्तु कबीर आदि सन्तों ने अनेक उल्लासोक्तियों द्वारा जिस मरण को काम्य ठहराया है, वह अवश्य ही उपरोक्त युद्धजन्यमरण से भिन्न है। इस सम्बन्ध में गोरखनाथ की एक उक्ति लीजिए :-

"मरौ वे जोगी मरौ, मरण है मीठा ।
तिस मरणीं मरौ, जिस मरणीं गौरख मरि दीठा ।।

अर्थात् हे जोगी ! मरो, मरना मीठा होता है। किन्तु वह मौत मरो जिस मौत से मरकर गोरखनाथ ने परमतत्व के दर्शन किये। प्रश्न यह है कि वह मरण कौनसा है जिसके द्वारा परमतत्व के दर्शन होने से मरण का ही मरण हो जाता है ?

ऊपर "सबद–बाण" के चलाने से शिष्य की मरण–दशा का उल्लेख किया गया है। गोरखनाथ ने भी मुसलमान काजी को समझाते हुए कहा था कि मुहम्मद के हाथ में जो तलवार थी, वह लोहे या फौलाद की बनी हुई नहीं थी, वह प्रेम अथवा "सबद" की तलवार थी :-

महमद महमद न कर काजी, महमद का विषम विचारं ।
महमद हाथि करद जे होती, लोहे गढ़ी न सारं ।।

× साहित्य और भाषा पर इस्लाम का प्रभाव (श्री रामधारीसिंह दिनकर) परिषद्-पत्रिका, वर्ष-२, अंक-२, पृ० ३३–३५।

महाराष्ट्र के प्रसिद्ध सन्त तुकाराम ने मरण–दशा के प्रत्यक्षीकरण का निम्नलिखित शब्दों में वर्णन किया है --

आपुले मरण पाहिले म्या डोला, तो झाला साहेला अनुपम ।
आनन्दे दाटली तिन्हीं त्रिभुवने, सर्वात्मउपणे भोग झाला ।
एकदेशी हो तो अहंकारे आथिला त्याचया त्यागे झाला सुकाल हा ।
फिटले सुतक जन्मा मरणांचे, भी मापया संकोचे दूर झालो ।
नारायणे दिला वसतीस ठाव, ठेवोनिया भाव ठेलो पायी ।
तुका म्हणे दिले उमटूनी जगी, घेतले ते अंगी लावूनिया ।।

अर्थात्– आज अपने दिव्य नेत्र से हमने अपनी मरण-दशा का प्रत्यक्षीकरण किया । यह एक अनुपम आनन्द महोत्सव हुआ । तीनों भुवन आनन्द से भरे हैं, आज हमें सर्वात्मभाव से उनका भोग हुआ । आज तक देहाभिमान से हम एकदेशी बन बैठे थे, उस अहं भाव का त्याग होते ही सर्वात्मभाव का उदय हुआ । आनन्दमय रूप चारों ओर खुल गया । जन्म-मरण परम्परा का अशुचि–सम्बन्ध टूट गया । अब हमारे लिए परिच्छिन्न भाव कहीं रहा ही नहीं । भगवान् ने हमको अपने यथार्थ रूप में रहने के लिए विशाल जगह दी । अब हमें भगवान के चरणों के सिवाय और कोई नहीं देख पड़ता । तुकाराम कहते हैं कि यह तो हमारा अपरिच्छिन्न आनन्दमय नित्य रूप प्रकट हुआ, वही हम हैं–यह निश्चय अब त्रिकाल में भी मलिन नहीं हो सकता ।

तुकाराम की उक्त वाणी से सिद्ध है कि सन्त लोगों ने जिस मरण का वर्णन किया है, वह शरीर-त्याग नहीं है, शरीराभिमान का त्याग है । यह वस्तुत: संकुचित अहं का मरण है जिसके द्वारा साधक उच्च भाव–भूमि पर प्रतिष्ठित होकर स्वरूपानन्द का लाभ प्राप्त करता है । यहां यह भली भांति स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि यह मरण सामान्य मरण नहीं है, इस मरण के द्वारा भौतिक अस्तित्व की समाप्ति नहीं हो जाती । यह मरण एक प्रकार से "जीवन्मरण अथवा जीवन्मुक्ति" है ।

जैसा ऊपर कहा गया है, संस्कृत साहित्य में मरण का जय जयकार न होकर अमरता का ही जय जयकार हुआ है । मैत्रेयी ने भी याज्ञवल्क्य से कहा था, "किं तेनाऽहं कुर्याम् येनाऽ हं नाऽ मृता स्याम् । अर्थात् उसको लेकर मैं क्या करूं जिससे मुझे अमरत्व न मिले । किन्तु कबीर ने अपनी साखियों में मरण का जिस उल्लासपूर्वक वर्णन किया है और गोरख ने 'मरण है मीठा' कह कर जिसके माधुर्य का बखान किया है, उसकी छटा निराली है । अहं भाव का मरण अथवा नाश होने से ही साधक अपने रूप में स्थित हो पाता है, उसे अपने स्वरूप की उपलब्धि हो पाती है और अपने स्वरूप की उपलब्धि किसे मधुर न लगेगी ? सन्तों का यह मरण वास्तव में आत्मसाक्षात्कार का साधन है और आत्मसाक्षात्कार की स्थिति में पहुंचने पर तो मृत्यु की भी मृत्यु हो जाती है । इसीलिए कबीर ने तो यहां तक कह दिया था—

"हम न मरिहैं, मरिहै संसारा । हमको मिला जिलावनहारा ।।"

रवि बाबू ने मृत्यु के सम्बन्ध में जो कुछ लिखा है, उससे मृत्यु गौरवान्वित हुई है । मृत्यु की विभीषिकाओं से वे कभी विचलित नहीं हुए । उनका कहना था कि मृत्यु जिस दिन मेरे द्वार पर आएगी, मैं उसे खाली नहीं जाने दूंगा । अपने जीवन का अमोल रत्न (प्राण) मैं उसे उपहार में दे दूंगा ।

जन्म-मरण के सम्बन्ध में कही हुई कबीर की निम्नलिखित उक्ति को रवि बाबू ने बड़ी चमत्कार-पूर्ण कहा था–

"जनम औ मरण बीच देख अन्तर नहीं दच्छ औ बाम यूं एक आही।
कहे कबीर या सैन गूंगा तई वेद औ कातेब की गम्य नाहीं ॥

हिन्दी–साहित्य में भी कामायनी के मनु ने "मृत्यु अरी चिर–निद्रे! तेरा अंक हिमानी–सा शीतल" कह कर मृत्यु के सम्बन्ध में अपने उद्‌गार प्रकट किये थे। श्रीमती महादेवी वर्मा ने भी "अमरता है जीवन का ह्रास, मृत्यु जीवन का चरम विकास" द्वारा मृत्यु का जय जयकार ही किया है। यदि पंतजी के शब्दों में "जीवन–नौका का विहार चिर जन्म-मरण के आरपार" है तो मृत्यु पूर्ण विराम भले ही न हो, वह नवीन प्रस्थान के लिए आवश्यक विराम तो है ही।

एक बार किसी ने काका कालेलकर से पूछा कि भगवान ने अगर मृत्यु छीन ली और आपको अजर–अमर बना दिया तो आप क्या करेंगे? यह सुन कर उन्होंने उत्तर दिया, "इस जीवन का अन्त होने वाला नहीं है, ऐसा डर अगर मेरे मन में छा गया तो मैं इतना घबरा जाऊंगा कि उस संकट से बचने के लिए मैं आत्म-हत्या ही करूंगा। मैं तो मानता हूँ कि खुदा की अगणित न्यामतों में सबसे श्रेष्ठ है मौत। मैं नहीं मानता कि परम दयालु परमात्मा मरने के हमारे अधिकार से हमें वंचित करेगा।"×

ऊपर के उद्धरणों से स्पष्ट है कि आधुनिक युग में ऐसे कवि और विचारक तो हुए हैं जिन्होंने मृत्यु को वरदान के रूप में ग्रहण किया है किन्तु जिस मरण को उन्होंने वरदान के रूप में देखा है, वह मरण कबीर आदि निर्गुण सन्तों द्वारा निरूपित मरण नहीं है। कबीर तथा अन्य सन्तों द्वारा विवेचित मरण-तत्व एक प्रकार से प्रतीकात्मक है और अपने ढंग का अनूठा मरण है जिसमें शरीर का मरण नहीं होता, मरण होता है भौतिक वासनाओं का और व्यक्ति के क्षुद्र संकुचित अहम् का। *

×मीच सचमुच है मीत (मंगल प्रभात, १ अप्रैल, १९६५)

* हिन्दी के यशस्वी कवि श्री सुमित्रानन्दन पन्त ने अवश्य अपनी 'छाया' शीर्षक कविता में प्रकारान्तर से कबीर तथा अन्य संतों द्वारा निरूपित मरण से मिलते–जुलते विचार प्रकट किये हैं। छाया के प्रति निम्नलिखित कथन में:—

हां सखि ! आओ बांह खोल हम लग कर गले जुड़ालें प्राण
फिर तुम तम में मैं प्रियतम में, हो जावे द्रुत अंतर्धान।

छाया रूप सखी से अभिप्राय छायारूप जगत् से ही है जिसे कवि (आध्यात्मिक जगत् में प्रवेश से पहले) प्यार कर लेना चाहता है क्योंकि आत्मा के प्रियतम में मिल जाने के बाद फिर छाया से मिलना कहां होगा? यहां भी ऐसा नहीं लगता कि शारीरिक मरण होने पर ही प्रियतम से मिलने की बात कही जा रही है। फिर भी यह स्वीकार करना होगा कि मरणतत्वविषयक संत–शैली और पंत–शैली में पर्याप्त अन्तर है। एक में जहां मरणोल्लास की अभिव्यक्ति हुई है तो दूसरी में प्रियतम से मिलन के पूर्व भौतिक जगत् के आकर्षणजन्य मोह को वाणी दी गई है। **—लेखक**